International Journal of Humanities, Commerce and Education
Volume 2 | Issue 3 | March 2026 | ISSN: 3108-0456 (Online)
Available online at: https://ijhce.com/
DOI: https://doi.org/10.59828/ijhce.v2i3.42

भारत में सामन्तवाद

फूलचन्द
शोधार्थी (प्राचीन इतिहास), बयालसी पी0जी0 कालेज जलालपुर, जौनपुर, उ0प्र0
Email: pcmson71@gmail.com

Received: 09 March 2026 | **Accepted:** 20 March 2026 | **Published:** 29 March 2026

सारांश

सामंतवाद, (फ्यूडलिज्म) शब्द यूरोपीय समाज में मौजूद एक धारणा का नाम है। जिसमें, भूस्वामी के भूमि सम्बन्धी अधिकारों को दासों या किसानों के अधिशेष पर पलने वाले परिजीवी के रूप में माना जाता है। फ्यूडलिज्म लैटिन शब्द फ्यूडम से व्युत्पन्न हुआ है। जिसका अंग्रेजी अपुवाद फीफ (थ्म्थ्द्ध होता है। सामंतवाद एक ऐसी प्रक्रिया हैं जिसके जरिये भू-राजस्व की उगाही एवं सेना के पालन समेत सारे प्रशासनिक अधिकार वंशानुगत् भूमि धारियों (सामंत) के एक निकाय को अधिकाधिक प्रत्यायोजित किया जाता था। भारतीय सामंतवाद यूरोपीय सामंतवाद से इस अर्थ में भिन्न था कि भारतीय सामंतवाद में कृषि दासता(सर्फडम) एवं मेनर व्यवस्था का अभाव दिखता है। यही कारण है कि भारतीय सामंतवाद को अर्द्ध सामंती कहा गया है।

मुख्य शब्द- *सामंतवाद, (फ्यूडलिज्म), कृषि दासता(सर्फडम), कुलीन वर्ग, नौकरशाही, माक्र्सवाद, विकेन्द्रीकरण।*

प्रस्तावना

सामंतवाद शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। कौटिल्य पड़ोसी राज्यों के शासकों को सामंत कहते है। सर्वप्रथम अश्वघोष ने बुद्धचरित् में सामंत का अर्थ जागीरदार बताया था। वस्तुतः सामंत शब्द का अर्थ जागीरदार ही होता है। सामंतवाद का अंकुरण शक–कुषाण काल में हुआ है तथा राजपूत काल आते–आते यह समाज में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया। प्रो0 बी0एन0एस0 यादव के अनुसार शक–कुषाण युग में हमें सामंतवाद के न केवल राजनीतिक अपितु सामाजिक तथा आर्थिक कारक भी स्पष्ट रूप से देखने को मिलते है।[1]

वैन्यगुप्त के गुणैधर अभिलेख में सर्वप्रथम सामंत एवं महासामंत शब्द मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सर्वप्रथम यह विधान मिलता है कि अधिकारियों को वेतन नकद दिया जाय। वहीं सर्वप्रथम मनुस्मृति में वर्णित है कि अधिकारियों को वेतन भूमिदान के रूप में दिया जाय। इस प्रकार गुप्त काल तथा इसके बाद राजनैतिक क्षेत्र में सामंतवाद पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया।

भारतीय सामंतवाद का स्वरूप एवं विकास

भारत में सामंतवाद के उद्भव तथा विकास के लिए राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियों ने उपयुक्त आधार प्रदान किया। बाह्य आक्रमणों के कारण केन्द्रीय सत्ता निर्बल पड़ गयी तथा चतुर्दिक अराजकता एवं अव्यवस्था फैल गयी। केन्द्रीय शक्ति के निर्बलता ने समाज में प्रभावशाली व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग तैयार किया जिन पर स्थानीय सुरक्षा का भार आ पड़ा। अव्यवस्था के युग में सामान्य जन अपनी जान–माल की सुरक्षा के लिए उनकी ओर उन्मुख हुआ। उल्लेखनीय है कि इन्हीं परिस्थितियों में मध्य कालीन यूरोप में भी सामंतवाद का अभ्युदय हुआ था। अरबों तथा तुर्को के आक्रमण ने शक्तिशाली राजवंशों को धराशाही कर दिया। फलस्वरूप उत्तर भारत में कई छोटे–छोटे राजवंशो का उदय हो गया। इससे सामंती प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला।[2]

भारत में सामंतवाद के उदय संबंधी विचारधारा के मुख्य प्रवर्तक प्रोफेसर रामशरण शर्मा है जिन्होंने गुप्तोत्तर कालीन सामाजिक आर्थिक संरचना को स्पष्ट करने के संदर्भ में सामंतवाद शब्द का प्रयोग किया है। कृषि जन्य अर्थव्यवस्था में ही मुख्तया सामंतवाद का उदय होता है सामंतवादी व्यवस्था में एक और भू–स्वामी वर्ग का उदय होता है और दूसरी ओर दासवत् कृषकों का वर्ग का उदय होता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत भूस्वामी वर्ग सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक तरीकों से कृषि अधिशेष का दोहन करते हैं या अर्थव्यवस्था का इतर यही रूप था। पूर्वोक्त मान्यता

This is an open access article under the Creative Commons Attribution-Non-Commercial 4.0 International License.
© The Author(s) 2026. IJHCE Published by Surya Multidisciplinary Publication.

का आधार सामंतवाद के पश्चिमी या यूरोपीय लक्षणों पर आधारित न्यूनाधिक रूप से मार्क्सवादी विचारधारा सामंतवाद को कृषक दासत्व आदिष्ट सम्पत्ति एवं सम विभाजित प्रभुसत्ता मानता है। प्रो0 रामशरण शर्मा का विचारधारा है कि भूमि उत्पादन व्यवस्था का प्रमुख स्रोत या माध्यम थी कि किसी भूखंड पर किसानों के अधिकार बहुत कम और भूस्वामियों को बहुत अधिक अधिकार प्राप्त थे। भूमि अनुदान व्यवस्था के स्वरूप से निःसंदेह यह आभास होता है कि वह भूस्वामियों ने उत्पादन के साधनों पर अपना सामान्य नियंत्रण स्थापित करके उसका भरपूर लाभ उठाया।

परन्तु प्रो0 हरबंश मुखिया ने प्रो0 राम शरण शर्मा के पूर्वोक्त विचारों का जोरदार ढ़ंग से खण्डन किया। उनका विचार है कि पूँजीवाद की भॉति सामंतवाद एक सार्वभौमिक व्यवस्था या प्रक्रिया नहीं होती है। भारत में जहॉ प्रभूत मात्रा में उपजाऊ भूमि उपलब्ध थी, कृषक दासत्व या बंधुवा मजदूरी जैसी कुप्रथाओं के प्रचलन के लिए अनुकूल परिस्थितियां विद्यमान नहीं थी। प्राचीन भारत में सामंतवाद के उदय के सम्बन्ध में प्रो0 राम शरण शर्मा की उक्त विचारधारा को अन्य अनेक विद्ववानों ने भी चुनौती दी है। निःसंदेह रूप से गुप्तोत्तर काल में भूमि अनुदान व्यवस्था के परिणाम स्वरूप भूस्वामी अभिजात्य वर्ग का उदय हुआ, परन्तु अनुदान में प्रदत्त जमीनों के साथ व्यक्तिगत स्वामित्व वाले कृषि क्षेत्र भी विद्यमान थे और प्रायः राज्य भूमि अनुदान के लिए व्यक्तिगत भूस्वामियों से उनकी निजी भूमि भी क्रय कर लेता था।[3]

भारत में सामंतवाद पर सबसे पहले जेम्स टॉड ने लिखा। उन्होंने मध्यकालीन राजस्थान में भू–स्वामी व कृषकों की तुलना यूरोप में मौजूद सामंतवादी ढांचे से की। भारतीय इतिहास लेखन में सामंतवाद का प्रयोग बढ़ते मार्क्सवादी दृष्टिकोण से होने लगा। मार्क्सवाद से भारत समेत एशिया की उत्पादन पद्धति को पूर्व औपनिवेशिक काल तक अपरिवर्तनशील बताया परंतु इतिहासकार इस बात से सहमत नही है। प्रमुख मार्क्सवादी इतिहासकार इरफान हबीब अपने आप को भारतीय सामंतवाद की अवधारणा से अलग रखते हैं, और उन्होंने मार्क्स की भी तीव्र आलोचना की है। सन् 1956 में प्रकाशित पुस्तक ऐन इंटरोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री में प्रो0 डी. डी. कोशाम्बी ने भारतीय इतिहास में सामंतवाद को दो स्वरूपों 1) ऊर्ध्वगामी सामंतवाद 2) अधोगामी सामंतवाद का सिद्धांत प्रस्तुत किया।[4]

प्रो० आर एस शर्मा ने अपनी महत्वपूर्ण कृति इंडियन फ्यूडलिज्म में प्रो0 डी. डी. कोशांबी के सिद्धांत को नहीं माना अपितु उन्होंने भारतीय इतिहास में सामंतवाद के उदय को पूरी तरह से ग्रजयीय कार्यवाई के परिणाम के रूप में देखा, अर्थात् ऊपर से। इस दृष्टिकोण से मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियों और इतिहासकारों के बीच सन् 1950 के दशक के आरंभ में एक अन्तर्राष्ट्रीय विवाद उत्पन्न हुआ। यह विवाद अब मुख्य रूप से इस प्रश्न तक ही सीमित है कि क्या सामतवाद और व्यापार परस्पर असंगत है। साथ ही, बौद्धिक मूकदृश्य के अन्य क्षेत्रों में, खासकर फ्रांस में, जहाँ इतिहास लेखन की एनल्स विचारधारा एक वैकल्पिक के रूप में विकसित हुई। उसने नए–नए प्रश्न शुरू किए और नए–नए आयामों पर अन्वेशषण होने लगा।[5]

जब हम सामंतवाद की परिभाषा और उसके सार्वभौमिक होने की बात करते हैं तो यह एक विवाद को जन्म देता है क्योंकि कृषि भूमि पर अधिकार तथा भू अधिशेष के अतिरिक्त समाज तथा भौगोलिक गतिविधियां एक बहुत बड़ा प्रभाव कृषि पर डालती है. और ये परिस्थितियां अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग होती हैं। भारत में भूमि यूरोप से ज्यादा उपज देती थी तथा साल के बारह महीनें फसल देती थी। यहां बेगार, बंधुआ आदि युरोपीय विशेषता नहीं थी। भारतीय किसान या कृषक मजदूर स्वयं के लिए मेहनत करता था जबकि यूरोपीय कृषक दास जमींदार के लिए मेहनत करता था।

सामंतवादी व्यवस्था के तहत कर्मचारियों को वेतन नकद ना देकर भूमि अनुदानों के रूप में दिया जाता था। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि नई बस्तियों से संबंधित कुछ अधिकारियों को छोड़कर राज्य के समस्त अधिकारियों को नकद वेतन मिलता था। लेकिन संभवतः दूसरी शताब्दी में संकत्ति मनुस्मृति में राजस्व अधिकारियों के भूमिदान के रूप में वेतन देने का उल्लेख है। गुप्तकालीन स्मृतिकार भी इस व्यवस्था को कायम रखते है। इतना तो स्पष्ट है कि हर्षवर्धन के काल में अधिकारियों को वेतन नकद न होकर भूमिदान के रूप में मिलता था।

इस व्यवस्था में सामन्तों को अपने सम्राटों के प्रति कुछ दायित्वों का निर्वाह करना होता था बाण पहला लेखक जिसने हर्षचरित तथ कादम्बरी में सामंतों के कर्तव्यों का संकेत दिया हैं। सामान्यतः सामंतों का मुख्य कर्तव्य था अपने राजा के लिए सेना संगठित करना, वार्षिक कर देना तथा प्रतिवर्ष राजा के दरबार में उपस्थिति होकर अपनी वफादारी प्रदर्शित करना। ये सम्राट के साथ अनेक मनोरंजनों में भी हिस्सा लेते थे। इस प्रकार सामंत सैनिक और प्रशासनिक दृष्टि से ही नहीं अपितु सामाजिक दृष्टिकोण से सामंत पद्धति का यह लाभ था कि इसमें केन्द्र से प्रशासित नौकरशाही की आवश्यकता नहीं रह जाती थी।

इस सामंतवादी ढांचे में हुई विविध उपसमितों की वृद्धि के कारण भूमि से प्राप्त होने वाली आय अनेक भागों में बिखर जाती थी। दूसरी ओर राजा की स्थिति ऊपर से कमजोर हुई तथा नीचे से कृषक की स्थिति कमजोर हुई।

बिचौलियों की संख्या में वृद्धि होने के कारण अधिक आय उनके हाथों में आ गई तथा उन्होंने कृषकों पर कई अन्य नए कर भी लगा दिए। कुछ कृषक तो 1/3 हिस्सा कर के रूप में अदा करते थे। यद्यपि सामान्यतः उत्पादन का 1/6 भाग ही कर के रूप में प्रचलित था। इन करों के अलावा किसानों और शिल्पियों से बेगार भी लिया जाता था। कुलीन वर्ग पूर्णतः कृषि पर निर्भर था और जुताई का वास्तविक कार्य कृषक करते थे। जो अधिकतर शूद्र होते थे। इस काल में उत्पादन स्थानीय जरूरतों को पूरा करने जितना उत्पादित किया जाता था। यानी आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था थी जिसमें अतिरिक्त उत्पादन पर जोर नहीं दिया जाता था। व्यापार और विनिमय भी स्थानीय स्तर तक था। अतिरिक्त उत्पादन की कोशिश इसलिए नहीं की गई क्योंकि इससे कृषकों को कोई फायदा नहीं होता था और अतिरिक्त हिस्से को जमींदार हड़प लेते थे। सीमित उत्पादन और व्यापार के अभाव के परिणामस्वरूप अर्थतंत्र की दृष्टि से गांव आत्मनिर्भर ईकाई से परिवर्तित हो गए। इस प्रकार अनेक स्वतंत्र और आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयों का उदय हुआ।[6]

सत्ता का विकेन्द्रीकरण इसका सिंद्वात था। राजा ने सत्ता को अपने सामंतों और जागीरदारों में बांट दिया। इसमें सांमत के न्याय के खिलाफ अपील नहीं होती। सत्ता का हस्तान्तरण होने के साथ ही राजा की शक्ति में कमी आई और मध्यस्थों की शक्ति में वृद्धि हुई। इस प्रणाली में राज्यों को प्रांतों, और प्रांतों को गांव में बांटा गया था। सता के विकेन्द्रीकरण के कारण शक्ति छोटे–छोटे लोगों के हाथों में बंट गई थी। जिससे गांव की प्रशासनिक इकाइयां (पचांयते) समाप्त हो गई थी। इस काल में समाज का स्वरूप ग्रामीण था। समाज सैनिक संगठन पर आधारित था क्योंकि शासकीय वर्ग ने युद्धों के जरिए अपना दर्जा ऊंचा किया था। पद के साथ इनकी जाति का भी स्थान बढ़ा। जैसे समाज में राजपूतों का स्तर ऊंचा हुआ। लेकिन जातिवाद पहले की अपेक्षा जटिल हो गया और औरतों की स्थिति में गिरवाट दर्ज की गई। ब्राह्मण का उत्थान हुआ, शासकीय वर्ग द्वारा संरक्षण दिया जाने के कारण समाज में अनेक नई जातियों का उद्भव हुआ। इसके पीछे भूमि अनुदान प्रणाली उत्तरदायी थी।

राजनैतिक सामंतवाद के उद्भव और विकास का ईसवी सन् की पहली शताब्दी से ब्राह्मणों को दिए जाने वाले भूमि अनुदानों से जुड़ा हुआ है। जो क्षेत्र उनको दान किए जाते थे उनमें उन्हें राजस्व विषयक व्यापक अधिकार दिए जाते थे और साथ ही शांति व्यवस्था कायम रखने और अपराधियों से जुर्माना वसूलने जैसे प्रशासनिक अधिकार भी। इस काल में भूमि अनुदान वालों की मंशा चाहे जो भी रही हो, किन्तु ऐसे अनुदानों का परिणाम यह हुआ कि देश में आर्थिक एवम् राजनैतिक शक्ति से सम्पन्न एक नए वर्ग का उदय हुआ तथा शासन तंत्र पर केन्द्र का वह सूक्ष्म और व्यापक नियंत्रण जिसके लिए मौर्य साम्राज्य प्रसिद्ध था वह मौर्योत्तर काल तथा गुप्तकाल में लुप्त होने लगा और इसका स्थान सता के विकेन्द्रीकरण ने ले लिया।[7]

सामंतवादी प्रणाली के विकास में देश विजय की उस प्रक्रिया से भी सहायता मिली जिसमें पराक्रमी राजा छोटे–छोटे सरदारों को जीतकर उन्हें कर दाता बनाकर और भक्ति भाव का प्रर्दशन करने का वचन लेकर उन्हें पुनः पदासीन कर देता था। यह प्रक्रिया चन्द्रगुप्त प्रथम के समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई। यद्यपि समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में सामंतवाद शब्द का जिक्र नहीं है तथापि छठी शताब्दी में विजित सरदारों के लिए सामंत शब्द का प्रयोग किया जाता था। धीरे–धीरे सामंतवाद का प्रयोग पराजित सरदारों के अतिरिक्त राज्याधिकारियों के लिए भी होने लगा।

एक विद्वान के अनुसार शक, यवन, कुषाण आदि विदेशी अंशाति उत्पन्न की। अव्यवस्था के युग में प्रत्येक महत्वाकांक्षी शक्तिशाली व्यक्ति ने भी अपने पृथक राज्य कायम कर लिया। गुप्त शासकों ने इन सभी महाराजाओं का अंत नहीं किया। यही कारण है कि गुप्तों के शिथिल होते ही ये पुनः स्वतंत्र हो गए और परस्पर युद्धों द्वारा अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर हो गए। परिणामस्वरूप समस्त भारत में अव्यवस्था फैल गई और एक प्रकार से मत्स्य न्याय का प्रारंभ हुआ। इसलिए तिब्बती लेखक तारानाथ को यह लिखने का मौका मिला कि इस काल में प्रत्येक ब्राह्मण, क्षत्रीय और वैश्य अपनी–अपनी जगह शासक बन बैठे। गुप्तों के साथ भी भारत में एक शक्तिशाली विशाल साम्राज्य की कल्पना भी समाप्त हो गई। सामंती पद्धति का यह एक स्वाभाविक परिणाम था।

कृषकों को कृषि दासों की स्थिति में पहुचाने बाली दूसरी बात थी बेगार प्रथा का विस्तार। पूर्वी काठियावाड़ में प्रतिहारों के सांमतों को ग्रामीणों से बेगार लेना का अधिकार प्राप्त था। वहां यह प्रथा विष्टि नाम से जानी जाती थी। सच तो यह है कि बेगार की प्रथा जितने व्यापक रूप में प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के शासन काल में गुजरात और महाराष्ट्र में प्रचलित थी, उतनी और किसी काल में नहीं रही। यह राजस्व का एक मुख्य साधन थी। इस काल की अर्थव्यवस्था में चार विशेषताएं प्रमुख है।[8]

1. भूमि पर राजकीय और सामुदायिक स्वामित्व का हास हो रहा था तथा व्यक्तिगत स्वामित्व का विकास हो रहा था।

2. उपसामंतीकरण, बेदखली, नए—नए करों के आरोपण तथा बेगार के कारण किसानों की दशा दयनीय हो रही थी।
3. आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था का विकास, जिसका अस्तित्व मुद्रा के कम उपयोग और व्यापार की कमी से सिद्ध होता है।
4. व्यापार और शिल्प कारीगरी से हाने वाली राजकीय आय मात्रा कुछ लोगों की जागीर बनती जा रही थी।

भारतीय सामंतवाद एवं यूरोपीय सामंतवाद का आलोचनात्क विशलेषण

भारतीय सामंतवाद का विकास यूरोपीय मॉडल से भिन्न, मुख्य रूप से गुप्तोत्तर काल (5वीं से 7वीं सदी) में भूमि अनुदान (अग्रहार) के माध्यम से हुआ। यह व्यवस्था राजा, सामंतों और किसानों के बीच भूमि आधारित सम्बन्धों पर टिकी थी, जो केन्द्रीयकृत सत्ता के हरास और स्थानीय स्वायत्ता में वृद्धि का संकेत थी। जबकि यूरोप में यह सैन्य वफादारी का यह एक कठोर अनुबन्ध था। जो कि दोनों में अन्तर निम्नवत् हैः—

1. भारत में सामंतवाद राजाओं द्वारा ब्राह्मणों या अधिकारियों को भूमि अनुदान देने से प्रारम्भ हुआ। जो बाद में वंशानुगत हो गया। जबकि यूरोप में रोमन साम्राज्य के पतन के बाद सुरक्षा के दृष्टिकोण से सामंतवाद प्रारम्भ हुआ।
2. पश्चिमी सामंतवाद विशुद्ध रूप से एक संविदात्मक और सैन्य व्यवस्था थी। जबकि भारतीय सामंतवाद अधिक सांस्कृतिक और धार्मिक रूप से मिश्रित व्यवस्था थी।
3. भारत में किसान अक्सर कृषि से जुड़े रहते थे, परन्तु यूरोप की तरह वे ''भूदास'' नहीं थे। जो जमीन से बधें हों।
4. यूरोपीय सामंत राजा के अधीन होते थे तथा उनके प्रति कठोर रूप से उत्तरदायी थें। जबकि भारत में सामंत राजा के अधीन तो थे परन्तु वे राजा के प्रति उतने कठोर रूप से उत्तरदायी नहीं थे।
5. भारतीय एवं यूरोपीय सामंतवाद में कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था थी, लेकिन भारत में शहरीकरण और व्यापार का पतन धीमा था जबकि यूरोप में व्यापार और शहर लगभग समाप्त हो गये थे जिससे आत्मनिर्भर मनोर (MANOR) व्यवस्था विकसित हुई।
6. भारतीय एवं यूरोपीय सामंतवाद के विषय में विद्धवानों दृष्टिकोण अलग—अलग है, प्रो0 आर0एस0 शर्मा भारतीय सामंतवाद के समर्थकों में प्रमुख है जो आर्थिक गिरावट से जोड़ते है, जबकि प्रो0 हरबंश मुखिया भारतीय सामंतवाद की अवधारणा की आलोचना करते हैं कि भारत में किसान आत्मनिर्भर थे।
7. भारत में सामंतावाद का रूप स्थानीय था जहॉं धार्मिक दान ने एक सुदृढ़ भूमिका निभायी। जो इसके पश्चिमी सामंतवाद से अलग करता है। 18वीं—19वीं शताब्दी में औपनिवेशिक नीतियों ने इसे जमींदारी व्यवस्था में बदल कर पूरी तरह नष्ट कर दिया।

निष्कर्ष

अतः हम पाते हैं कि भारतीय सामंतवाद की इतिहासकारों ने भिन्न—भिन्न व्याख्याएं दी। चाहे वे प्रो0 डी. डी. कौशांबी हो या प्रो0 आर.एस. शर्मा के तर्कों को प्रो0 बी.एन.एस. यादव तथा प्रो0 डी.एन. झा द्वारा मजबूती प्रदान की गई। परंतु प्रो0 हरबंस मुखिया ने सवाल खड़ा किया क्या भारत में सामंतवाद था? परंतु हाल में भी इतिहासकार भारतीय सामंतवाद में व्यापार और शहरीकरण का पतन आदि पर सवाल उठा रहे हैं।

अतः सामंतवाद कोई सार्वभौमिक व्यवस्था नहीं थी, भारत में सामंतवाद आंशिक रूप से हो सकता है परंतु प्रत्येक सभ्यता व देश के भू—स्वामी व कृषि दासों या किसानों के सबंध अलग—अलग थे।

संदर्भ सूची

[1]. सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नॉदर्न इण्डिया, पृष्ठ 136 तथा आगे।
[2]. के0सी0 श्रीवास्तव प्राचीन भारत का इतिहास प्रकाशन वर्ष 1995, पृष्ठ 630।
[3]. भारतीय इतिहास प्रधान सम्पादक, वी0के0 अग्निहोत्री प्रकाशन वर्ष 1997, पृष्ठ सं0 225।
[4]. कौशाम्बी डी. डी. (1956) —एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, बम्बई ।
[5]. शर्मा. आर. एस. (1965)—द इंडियन फ्यूडिलिजम, नई दिल्ली।
[6]. शर्मा, आर. एस. (2001)—अर्ली मिडिवल इंडियन सोसाइटीः ए स्टडी इन फयुडलाइजेशन, ओरियण्ट लांगमैन, कलकत्ता।
[7]. मुखिया हरबंस (1999)— द फयुडलिजम डिबेट, नई दिल्ली।
[8]. झा, डी. एन.—(2000)—द फयूडल ऑर्डर स्टेट, सोसाइटी एण्ड आइडियोलाजी इन अर्ली मिटिवल इंडिया, नई दिल्ली।

Cite this Article:

फूलचन्द (2026). भारत में सामन्तवाद International Journal of Humanities, Commerce and Education, 2(3), 9-12.

Journal URL: *https://ijhce.com/* ***DOI:*** *https://doi.org/10.59828/ijhce.v2i3.42*